## CONTENT CREATOR NAME -


**Name** - **DR. RAVI PRATAP SINGH**

**Name of College** - **SHIA P.G. COLLEGE, LUCKNOW**

**Designation** - **ASSISTANT PROFESSOR**

**Faculty** - **ARTS**

**Department** - **POLITICAL SCIENCE**

**Gender** - **MALE**

**Mobile** - **8299585088**

**Email** - **pratapravi31@gmail.com**


| SN | STREAM NAME | SUBJECT NAME | TOPIC NAME | COURSE (B.A./M.A/B.Sc/M.Sc/Etc) | YEAR/SEMESTER | NO. OF PAGES | CONTENT LANGUAGE (Hindi/English) | CONTENT TYPE | CONTENT KEYWODS |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1. | Arts | Political Science | Ancient Indian Political Thought | B.A. | 5t | 21 | Hindi | PDF | |

# Ancient Indian Political Thought

## Unit-I

### प्राचीन भारतीय चिन्तन की विशेषताएं

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगल काल तक माना जाता है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्रोत है। इसमें मुख्य रुप से प्राचीन साहित्य, वेद पुराण, धर्मशास्त्रों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों को शामिल किया जाता है। इसके अलावा समय–समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे – अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवं फाह्यान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। पाचीन भारतीय चिन्तन के स्रोत के रुप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारतीय चिन्तन के स्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न भागों में बांट सकते हैं–

1. देशो अथवा भारतीय स्रोत
2. विदेशी स्रोत

### 1. देशी स्रोत

देशी अथवा भारतीय स्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं, जिसमें मुख्य रुप से वेद उनकी संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र सम्मिलित हैं। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे – रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे – बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिन्तन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है।

## 2. विदेशी स्रोत

भारतीय चिन्तन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत विदेशी स्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रुप से विदेशी विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शामिल किया जाता है। इसमें मुख्य रुप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है।

## धर्मशास्त्र के प्रणेता : महाराज मनु

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन महाराज मनु का माना जाता है। उन्होंने अपनी रचना "मनुस्मृति" में राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। विभिन्न विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि, धर्म विषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा प्रारम्भ किया गया। "मनु स्मृति" को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है।

"मनु स्मृति" की विषय वस्तुः– मनु स्मृति में कुल 12 अध्याय है। "मनु स्मृति" का अध्यायवार विवरण इस प्रकार है –

1. **प्रथम अध्याय** :– जगत की उत्पति, भू लोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पति, चार वर्ग उत्पति, स्त्री पुरुष उत्पति आदि। कुल 111 से 119 श्लोक तथा संक्षिप्त स्मृति सूची पायी जाती है।

2. **द्वितीय अध्याय** :– धर्मोपदेश, श्रृति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार, माता–पिता, चारों आश्रम का वर्णन है।

3. **तृतीय अध्याय** :– ब्रहाचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन है।

4. **चतुर्थ अध्याय** :– मनुष्य के नित्यकर्मों का वर्णन है, करने तथा न करने योग्य कार्यों का वर्णन।

5. **पंचम अध्याय** :– स्त्री संबंधी व्याख्या, अन्य शिक्षाओं का उल्लेख है।

6. **षष्टम अध्याय** :– वानप्रस्थ की अवस्था, वानप्रस्थ की महिमा, सन्यास आश्रम आदि का वर्णन।

7. **सप्तम अध्याय** :– राज व्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पति, दण्ड की उत्पति, कर तथा सेना संबंधी नियमों का उल्लेख है।

8. **अष्टम अध्याय** :– दण्ड के नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिये जाने वाले दण्डों का विवरण है।

9. **नवम्, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायः**– वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, प्रकार वर्ण संस्कारों की उत्पति आदि का वर्णन है।

10. **बारहवें अध्याय** :– मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यो के गुण–दोष पाखण्ड, गुण–दोष आदि का वर्णन है।

## 2. राज्य की उत्पति विचार

"मनु स्मृति" के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में राज्य की उत्पति एवं सावयवी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। महात्मा मनु ने राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी है। मनुस्मृति कई जगह सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का भी आभास दिखता है। प्रायः मनु के दैवीय उत्पति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त से की जाती है। इन दोनों में काफी अंतर दिखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पति के सिद्धान्त क द्वारा राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है। जबकि महात्मा मनु ने सम्राट पर धर्मसत्ता एवं पारलौकिक सत्ता का अंकुश लगाया है।

## 2. सम्राट संबंधी विचार

महात्मा मनु ने राजा को अनेक देवताओं के सारभूत अंश से निर्मित बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न है, अतः उसका अपमान नहीं हो सकता है। राजा से द्वेष करने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की ओर ले जाना। लेकिन अंततः महात्मा मनु राजा पर नैतिकता एवं सदाचार का अंकुश लगाकर जनता के प्रति उत्तरदायी बना देते हैं।

## 3. शासन संबंधी विचार

महात्मा मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से (मंत्रियों) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनुस्मृति में स्पष्ट किया गया है कि राजा को सदैव लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, जो प्राप्त हो गया है उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। राजकोष को भरने का सदैव प्रयास करना चाहिए। समाज के कमजोर एवं सुपात्र लोगों को दान करना चाहिए। राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत व्यवहार करना चाहिए तथा राष्ट्रहित में कठोर भी हो जाना चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धान्तप्रिय तथा मातृभूमि से प्रेम करने वाला होना चाहिए।

## 4. कानून – न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

मनुस्मृति में सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया गया है। न्याय ही दण्ड का आधार है। मनु का यह मानना था कि, दण्ड के भय के कारण ही लोग स्थिर रहते हैं। मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताये हैं –

1. घिग्दण्ड।
2. वाग्दण्ड।
3. धनदण्ड।
4. वधदण्ड।

## 5. विदेश नीति संबंधी विचार

महात्मा मनु ने विदेश नीति संबंधी दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न है–

1. **मण्डल सिद्धान्त** :– महात्मा मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए। उसे सदैव अपनी सीमाओं के विस्तार के संबंध में सोचना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजा को सदैव मण्डल सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिए। महात्मा मनु के मण्डल सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु "विजीगीषु राजा" होता है।

2. **षाड़गुण्य नीति** :– मनु की यह मान्यता है कि राजा को छः नीतियों का पालन करते हुए न केवल अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए वरन अपनी सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिए। वह साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा राष्ट्रहित में वृद्धि पर बल देता है। इसके लिये उसे निम्न छः नीतियों को अपनाना चाहिए –

1. संधि।
2. विग्रह।
3. यान।
4. आसन।
5. द्वैधीभाव।
6. सश्रंय।

## Unit-II

### नीतिशास्त्र के प्रणेता : राजर्षि भीष्म

भारतीय इतिहास में महराज शान्तनु के पुत्र भीष्म को नीतिशास्त्र के प्रणेता के रुप में जाना जाता है। भीष्म पितामाह कौरवों और पाण्डवों के पितामाह थे। वह महाभारत के युद्ध के प्रमुख किरदार थे। भीष्म तेजस्वी, शीलवान, धर्मात्मा पुरुष थे। भीष्म महान पितृभक्त थे। अपने पिता की इच्छा को देखते हुए भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया, जिसे आजीवन निभाया। महाभारत में वर्णित भीष्म के विचार निम्नवत हैं –

1. **राज्य की उत्पत्ति** :– भीष्म ने किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। किन्तु कहीं–कहीं दैवीय सिद्धान्त एवं सामाजिक समझौता सिद्धान्त का आभास मिलता है। शान्तिपर्व में भीष्म कहते हैं कि मानव का प्रारम्भिक जीवन स्वर्णिम था, किन्तु असीम लालसा के कारण अधःपतन हुआ। मानव के इस आचरण से देवता भयभीत हुए तथा वे ब्रह्मा के पास गए। भगवान ब्रह्मा ने देवताओं की व्यथा सुनी तथा विस्तृत विधान करके विरजस की सृष्टि की। जनता ने उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया, किन्तु विरजस तथा उसका पुत्र तथा पौत्र तपस्वी बने रहे और राजा के कर्तव्यों से दूर रहे और अपने दायित्वों का सुनिश्चित निर्वाह नहीं किया। उन्हीं की पीढ़ी मे पृथु का जन्म हुआ, वह वेदों का ज्ञाता था। इसके अलावा महान योद्धा भी था। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई और सम्पूर्ण प्रजा उससे संतुष्ट थी। उसे क्षत्रिय कहा गया क्योंकि उसने ब्राह्मणों की रक्षा की। शांतिपर्व के 67वें अध्याय में राज्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि प्रारंभ में लोगों में अनुबन्ध था, जिसका पालन नहीं हो पाया।

2. **राज्य के अंग अथवा तत्व** – यह सर्वविदित है कि भीष्म ने राज्य को सप्तांग कहकर पुकारा है। शान्तिपर्व के अध्याय 69 में कथन है कि राजा को उचित है कि वह आत्मा, सेवक, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर पर यत्नपूर्वक शासन करे। यह सातों सप्तांग एक दूसरे के पूरक हैं।

3. **राज्य का उद्देश्य** – कल्याणकारी राज्य एवं लोक कल्याण की स्थापना।

4. **राजा का पद और महत्व** – भीष्म ने भी प्राचीन चिंतकों की भांति राजा को दैवीय अंश से विभूषित किया है। राजा को महामानव के रुप में देखता है। वह राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं मानता है, यह आश्चर्यजनक तथ्य है। आम जनता को राजा का अनादर नहीं करना चाहिए क्योंकि राजा में पांच देव वास करते हैं – अग्नि, आदित्य, यम, मृत्यु और कुबेर। राजा का कार्य प्रजा का आध्यात्मिक एवं भौतिक उत्कर्ष करना है। राजा का पद पैतृक मानता था। ज्येष्ठ पुत्र स्वाभाविक उत्तराधिकारी होता था। ज्येष्ठ पुत्र न होने पर छोटा पुत्र सिंहासनारूढ़ होता था। नए राजा की नियुक्ति पर जनता की स्वीकृति ली जाती थी। यह प्रजातांत्रिक गुण था। राज्याभिषेक के बिना कोई राजा वैद्य शासक नहीं माना जाता था।

5. **शासन** – राजा का प्रमुख कर्तव्य है राज्य में शांति और व्यवस्था की बहाली करना तथा अपनी प्रजा के प्रति स्नेहपूर्ण एवं पितातुल्य व्यवहार करना। प्राचीन भारत में राजा, मंत्रियों एवं अन्य अधिकारियों से मिलकर कार्यपालिका बनती थी। कार्यपालिका के अतिरिक्त शासन के दो प्रमुख अंग विधायिका और न्यायपालिका होते हैं। महाभारत में कुछ जगहों पर सभा का वर्णन आता है।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय संबंध** – भीष्म के अनुसार राजाओं के चार प्रकार के मित्रों का वर्णन है। राजाओं के मित्र, सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम। महात्मा भीष्म मानते हैं कि राजा शत्रुओं को पराजित करके निश्चिन्त न हो जाए क्योंकि शत्रु बालक या बूढ़ा होने पर भी हानि पहुंचा सकता है।

7. **नैतिकता** – महात्मा भीष्म के अनुसार आपातकाल में अधर्म भी धर्म के लक्षण पा जाता है। शास्त्रोचित आपातकाल में प्रजापीड़न आदि में भी धर्म गिना जाता है। आपातकाल में श्रेष्ठ क्षत्रिय तपस्वियों और ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी का धन ले सकता है। क्षत्रिय पुरुष आपातकाल में अधिक धनवान पुरुषों का धन ग्रहण कर राज्य को समर्पित कर दें। आपातकाल में राजा परिस्थितियों को देखकर व्यवहार करे, यही उचित है। प्राण रक्षा के लिए यदि शत्रुओं से संधि करना पड़े तब भी संधि करना चाहिए।

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि महाभारत के पितामाह भीष्म सूरवीर होने के साथ–साथ सदाचार एवं नैतिकता से परिपूर्ण थे। भीष्म तत्कालीन समय में नैतिकता एवं सदाचार के समस्त मानदण्डों को परिभाषित करते थे। भीष्म की इसी महानता से प्रभावित होकर भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध के पश्चात भावी सम्राट युधिष्ठिर को भक्ति, ज्ञान, सदाचार की शिक्षा लेने के लिए भीष्म के पास भेजा। भीष्म की शिक्षाओं से शान्तिपर्व भरा पड़ा है। शान्तिपर्व आज भी नैतिकता, सदाचार, यथार्थ के मापदण्डों पर खरा उतरता है तथा इसकी प्रासंगिकता आज भी चिरकालिक रुप से विद्यमान है।

## लाकतांत्रिक समता के प्रतीक पुरुष : महात्मा शुक्र

प्राचीन भारत में मनु और कौटिल्य के बाद महात्मा शुक्र का नाम भारतीय इतिहास में उल्लेखनीय है। महात्मा शुक्र राक्षसों के गुरू और नीति शास्त्री भी माने जाते हैं।

### शुक्र नीति

शुक्र नीति प्राचीन भारत की महान सिद्धान्तों एव उपलब्धियों को दर्शाता है। इसके समय को लेकर विद्वानों मे मतभेद है। प्रसिद्ध विद्वान काशीप्रसाद जायसवाल इसे आठवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। डा. बेनीप्रसाद इसे 12वी–13वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। परन्तु अध्ययन के उपरान्त हमें ज्ञात होता है कि, महाभारत और मनुस्मृति की भांति शुक्र नीति भी अति प्राचीन है। लेकिन कालांतर में कुछ अंश इसमें जोड़ा गया है। प्रसिद्ध विद्वान यू.एन. घोषाल इसे हिन्दू राजनीतिक चिन्तन का महान अंतिम ग्रन्थ मानते हैं। शुक्रनीतिसार की शैली अन्य धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से भिन्न है। कई स्थानों मे उत्तर वैदिक काल और मुस्लिम काल का अजीब सा मिश्रण है। शुक्रनीतिसार केवल राजतंत्र का वरण करता है, जो इसे चार भागों में विभक्त करता है। प्रथम भाग में राजा की योग्यता, शिक्षा एवं उत्तरदायित्व का सविस्तार वर्णन है। दूसरे भाग में राज्य के उच्चाधिकारियों एवं आय एवं व्यय का भी वर्णन है। तीसरे भाग में सामाजिक रीतिरिवाजों, परम्पराओं, काव्यअलंकार, अर्थशास्त्र, इतिहास का वर्णन है। चतुर्थ भाग में दुर्ग, मित्र, न्यायिक एवं सेना प्रशासन का वर्णन मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि, शुक्रनीतिसार राजनीति और लोक प्रशासन का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें शासन प्रशासन का गहन अध्ययन मिलता है। महात्मा शुक्र बड़े

प्रगतिशील विचारक थे, उन्होंने जातीय आधार को महत्व नहीं दिया तथा समाजिक समता पर बल दिया।

## सम्राट

दैत्य गुरु शुक्र के अनुसार सम्राट का कार्य लोगों के हितार्थ कार्य करना है। शुक्र नीति के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अध्यायों में राजा के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का उल्लेख है। महात्मा शुक्र ने शुक्रनीतिसार में नैतिक नियमों, मर्यादाओं एवं शासन की कला का विस्तृत विवेचन किया है। महात्मा शुक्र के अनुसार नीति शास्त्र सभी वर्गों, सभी के हितों एवं सभी के कार्यों को समाहित करता है। राजा को नीति शास्त्र में निपुण होना चाहिए, तभी वह प्रजा के साथ विवेकवान एवं न्यायपूर्ण व्यवहार कर पाएगा। शुक्र का राजा न तो निरंकुश होता है न तो भोगविलासी होता है वह एक अभिभावक की भांति प्रजा के उत्थान के लिए समर्पित रहता है। महात्मा शुक्र के अनुसार राजा का कार्य प्रजा का उत्थान एवं विकास करना है। शुक्र ने सतोगुण प्रधान राजा को महत्व दिया है। उनका मानना है कि सतोगुण प्रधान राजा नैतिक आधार पर शासन करता है। वह तमो गुण प्रधान राजा को राज्य एवं मानवता के लिए संकट मानता है।

## साप्तांग सिद्धांत

महात्मा शुक्र द्वारा वर्णित राज्य का साप्तांग सिद्धांत कौटिल्य के सन्निकट है। उसके सात अंग निम्न हैं, जैसे – स्वामी, आमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और मित्र। राजा सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। राजा सिर होता है, मंत्री आंख होता है, मित्र कान, कोष मुख, सेना मस्तिष्क, दुर्ग व राष्ट्र हाथ पैर। वह सुझाव देता है कि, राजा को आय का 1/6 भाग बचाकर रखना चाहिए। ब्राहम्णों, निर्धनों, असहायों की सहायता करनी चाहिए। राज्य के कर्मचारियों एवं सरकारी प्रतिष्ठानों पर भी व्यय करना चाहिए। शुक्र ने सर्वाधिक व्यय सेना को समर्पित किया है। सेना के गठन के संबंध में उसका विचार क्रान्तिकारी है। उसका विचार है कि, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, मलेक्ष एवं वर्णशंकर भी सैनिक बन सकते हैं। यह विचार महात्मा शुक्र को मनु एवं कौटिल्य की अपेक्षा ज्यादा *लोकतांत्रिक एवं समतावादी* बनाता है।

**राज्य का कार्यक्षेत्र**

महात्मा शुक्र लोक कल्याणकारी राज्य के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि प्रजा के सुख दुख सम्पन्नता, विपन्नता सभी में राज्य की भागीदारी है। राज्य को अपने नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। महात्मा शुक्र का राज्य का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक है कि, राज्य की समस्त गतिविधियां इसमें समाहित होती हैं। इस प्रकार शुक्र राजा को अभिभावक एवं पथ प्रदर्शक बना देता है। महात्मा शुक्र ने सत्यवादी, शक्तिशाली, पवित्र आत्मा एवं नैतिक राजा पर बल दिया है, ताकि वह निस्वार्थ होकर प्रजा का उत्थान कर सके। शुक्र का राजा जुआं, मद्यपान से दूर रहता है। उसके अंदर लोभ, अहंकार, असहिष्णुता एवं विलासिता नहीं होती है। वह प्लेटो की भांति एक दार्शनिक राजा की बात करता है। उसका राजा राम और कृष्ण की भांति आदरणीय है। शुक्र मंत्रिमण्डल न छोटा रखना चाहते हैं और न बड़ा। वह 10 मंत्रियों को उचित मानते हैं। जो निम्नवत् हैं – पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान सचिव, प्राड्विक, पण्डित, सुमन्त, आमात्य एवं दूत। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, लोक प्रशासन की दृष्टि से शुक्र नीति सार एक अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में समता एवं लोकतांत्रिक मान्यताओं का ख्याल रखा गया है। कौटिल्य की भांति शुक्र भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर चर्चा करता है। महात्मा शुक्र के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों से संबंधित विचार कौटिल्य से प्रभावित हैं। शुक्र चार प्रकार के राजाओं का जिक्र करता है, जैसे – *शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन*। वह षड्गुण्य नीति का भी उल्लेख करता है। जिसमें सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव सम्मिलित है।

अतः हम कह सकते हैं कि महात्मा शुक्र ने राजा एवं राज्य के समस्त पक्षों का वर्णन अपनी पुस्तक शुक्र नीतिसार में किया है। यह पुस्तक लोकतांत्रिक एवं समतावादी मूल्यों को प्रोत्साहन देती है। यही मूल्य लोक कल्याणकारी एवं समतावादी विश्व का आधार है।

## यथार्थवाद के प्रणेता : आचार्य कौटिल्य

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। साधारण ब्राह्मण परिवार में जन्म के बावजूद अपनी अप्रतिम योग्यता, मेधा, क्षमता तथा साहस से वह राज्य के नायक बने। आचार्य कौटिल्य ने अपनी संगठन क्षमता, कूटनीति,

शौर्य से नंदवंश का सर्वनाश किया। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों में आचार्य कौटिल्य का नाम सर्वोपरि है। यद्यपि मनु, शुक्र, बृहस्पति एवं अन्य कई विचारक हुए हैं लेकिन उनके काल, योगदान आदि के बारे में बड़ा विवाद है। कौटिल्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उनकी अमर कृति अर्थशास्त्र सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह प्रथम भारतीय ग्रन्थ है जिसमें आध्यात्म, धर्म आदि परम्परागत प्रभावों से मुक्त होकर राजनीति, शासन, प्रशासन, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय तत्वों, कूटनीति, परराष्ट्र सम्बन्धों आदि पर वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है।

## राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से मिलते–जुलते विचार दिये है।

कौटिल्य अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में स्पष्ट करता है कि, राजा जनकल्याण के लिए कार्य करेगा तथा जनता कोष में अपना अंश तभी जमा करेंगे जब उनकी सुरक्षा, कल्याण आदि राजा द्वारा सुनिश्चित किया जायेगा। इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति में जन स्वीकृति का विचार दिया है। अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण के पहले अध्याय में राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सात अंग निम्न है :–

1. स्वामी अथवा राजा
2. अमात्य
3. जनपद
4. दुर्ग
5. कोष
6. दंड
7. मित्र

## दण्डनीति

कौटिल्य के अनुसार अन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनो वेद), वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) और दण्डनीति (शासन विज्ञान) कुल मिलाकर चार विज्ञान हैं। मनु के अन्वीक्षिकी को वेदो की एक विशिष्ट शाखा माना है। अन्वीक्षिकी में सांख्य, योग एवं लोकायत का दर्शन निहित है। कौटिल्य ने अन्वीक्षिकी की बहुत ही उपयोगी ज्ञान माना है, यह मस्तिष्क को सभी परिस्थितियों में शान्त रखता है, मन, वचन और कर्म में एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता प्रदान करता है। कौटिल्य यथार्थवादी विचारक थे। उन्होंने सभी विद्याओं, कलाओं और विज्ञानों का ध्येय वार्ता और दण्डनीति में देखा। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कृषि, पशु पालन और व्यापार वार्ता की परिधि में आत हैं।

**सम्राट**

आचार्य कौटिल्य से अपेक्षा है कि वह पूर्वान्ह काल सैनिक शिक्षा जैसे – घोड़ों, हाथियों, रथों एवं हथियारों के प्रयोग के प्रशिक्षण में बिताये। दोपहर बाद का समय इतिहास सीखने में व्यतीत करे। आचार्य कौटिल्य ने पुराण, इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र को इतिहास मे ही सम्मिलित किया है। शेष दिन और रात्रि में वह नये पाठ पढ़े और पुराने याद करे और जो स्पष्ट नहीं हुआ उसे समझे। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि, सुनने (श्रुत) से ज्ञान की वृद्धि होती है और ज्ञान के निरन्तर कार्यान्वयन से योग सिद्धि प्राप्त होती है और योग द्वारा आत्म विश्वास आता है। कौटिल्य स्पष्ट कहते हैं कि, सुशिक्षित, अनुशासित और विद्याओं का ज्ञाता राजा सुशासन देता है और निष्कंटक राज कर सकता है।

कौटिल्य मंत्रियों के लिए निम्नांकित योग्यताएं निर्धारित करते हैं – स्थानीय, व्यक्ति, उच्च परिवार से उत्पन्न, प्रभावशाली, कलाओं में निपुण, दूरदर्शी, बुद्धिमान, अच्छी स्मरण शक्तिवाला, निर्भीक, अच्छा वक्ता, चतुर, उत्साही, गरिमापूर्ण, सहिष्णु, शुद्ध चरित्र वाला, प्रसन्न मुख, स्वामीभक्त, शुद्ध आचरण, दृढ़ निश्चय वाला होना चाहिय।

## सप्तांग राज्य

प्राचीन भारतीय विचारको की भांति कौटिल्य भी राज्य के सात अंग मानते हैं। ये हैं – राजा अर्थात् स्वामी, अमात्य अर्थात् मंत्री, जनपद अर्थात् भूमि या क्षेत्रफल, दुर्ग (किला), कोष, दण्ड और मित्र। इन्होंने इन सबका सविस्तार वर्णन भी किया है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र लोक प्रशासन की दृष्टि से एक अनुपम ग्रन्थ है। मंत्रि परिषद एवं अधिकारियों के बारे में हमे पर्याप्त सामग्री मिलती है। मंत्रिपरिषद के सदस्यो की संख्या कहीं निर्धारित नहीं की गयी है। आवश्यकतानुसार यह घटाई बढ़ाई जा सकती है। वैसे कौटिल्य का सुझाव यह है कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से परामर्श लेना चाहिये। मंत्रो पद बड़ा दुर्लभ माना गया है। वह मंत्री के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह उच्च कुल का हो, उसे धर्म का यथेष्ट ज्ञान हो, वह अच्छी स्मृति वाला, मेधावी निर्भीक, विवेकशील एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाला हो। वह ईमानदार और राज्य एवं राजा के प्रति निष्ठावान भी हो।

# Unit-III

## प्राचीन भारत में न्यायपालिका और कानून

प्राचीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था न्यायपूर्ण प्रशासन के लिए सुविख्यात है। तत्कालीन न्याय अन्य प्रारंभिक समाजों की भांति सुव्यवस्थित क्रम एवं सदाचारों से युक्त नहीं था। सामाजिक परम्पराओं का उल्लंघन करने वालों के साथ कठोरता बरती जाती थी। सारा समुदाय सामूहिक रुप से ऐसे व्यक्तियों को दण्ड देता था, जो सामाजिक नियमों को चुनौती देते थे।

### न्याय प्रशासन का उद्देश्य

प्राचीन भारत में न्याय प्रशासन का उद्देश्य वर्तमान की भांति विधि को क्रियान्वित करना था। प्राचीन भारत में यह मान्यता प्रचलित थी कि, सामाजिक जीवन को स्थानीय अभिसमयों एवं मान्यताओं के अनुसार चलाना चाहिए। कानून का उल्लंघन करने पर सामाजिक जीवन में अव्यवस्था होने का अंदेशा बढ जाता है। समाज में स्थित पारस्परिक संघर्षों को दूर करने के लिए राज्य कानूनों को क्रियान्वित करता था। राज्य का कार्य था समाज में मत्स्य न्याय की व्यवस्था न रहे एवं विधि का राज रहे। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्था में इस बात पर बल दिया गया है कि, राजा दुर्बलों की रक्षा करें तथा प्रजापालक की भांति धर्म की स्थापना करें।

हम देखते हैं कि, सम्राट की शक्ति का विकास धीरे–धीरे बढ़ा और स्मृतिकाल तक आकर न्याय के क्षेत्र में सम्राट का प्रभाव बढ़ा। नारद और बृहस्पति ने इसका पर्याप्त उल्लेख किया है। सम्राट की सभा को सर्वोच्च न्यायालय का स्वरूप दे दिया गया है। सम्राट न्याय सभा में उपस्थित होता था। उसके साथ मंत्री भी होते थे। सम्राट होने के साथ उसे न्याय की व्यवस्था भी करनी होती थी। सभी को न्याय मिले यह राजा को सुनिश्चित करना होता था। अतः सम्राट कानूनो का निर्माण करता था एवं न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था। इसके अतिरिक्त अनेक सामाजिक प्रतिनिधि होते थे जो न्याय व्यवस्था की व्याख्या करते थे। न्यायिक प्रशासन में इस बात पर जोर दिया जाता था कि अपराधी को उसके अपराध की सजा अवश्य मिले। सम्राट को न्याय देने में सहायता अनेक अधिकारी होते थे जिनमें प्रधान न्यायधीश उसका मुख्य सहायक होता था। इसे प्राड्विक

अथवा धर्माध्यक्ष कहा जाता था। महाराजा मनु ने इस अधिकारी के लिए धर्मवक्ता और मानासोल्लास जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु प्राड्विक शब्द ज्यादा प्रचलन मे था। प्राड्विक इसलिए कहा गया क्योंकि वह वादी और प्रतिवादी से प्रश्न पूछता था। बृहस्पति ने प्रधान न्यायधीश को वक्ता कहा है। प्राड्विक की नियुक्ति के अतिरिक्त राजा एक विद्वान ब्राहम्ण और तीन विद्वान और सभ्य सदस्य नियुक्त करता था। इनमें निम्न गुण होते थे, जैसे – ये उदार, कुलीन, क्रोधरहित, धर्मवान होते थे। न्याय प्रशासन में अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी पुरोहित एवं ग्रामणी थे। पुरोहित को राज्य का आधा अंश एवं राज्य का रक्षक माना गया है। ग्रामणी न्यायिक प्रशासन की स्थानीय इकाई का प्रधान होता था। ये चुना हुआ पदाधिकारी होता था। बाद में इसे राजा द्वारा नियुक्त किया जाने लगा। प्रशासन व्यवस्था के केन्द्रीकृत होने पर वह राज्य कर्मचारी बन गया। ग्रामणी का पद लोकतांत्रिक था।

**प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की विशेषताएं –**

1. राजा सर्वोच्च अधिकारी
2. न्याय व्यवस्था शक्ति पृथक्करण क सिद्धान्त पर आधारित
3. पक्षपातरहित एवं निरपेक्ष न्याय
4. धर्म से प्रभावित न्याय
5. न्याय व्यवस्था में ब्राहम्णों का महत्व एवं विशेषाधिकार
6. फौजदारी एवं दीवानी विवादों में भेद
7. ग्रामणी का पद लोकतांत्रिक होना

**प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया**

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया मान्य सिद्धान्तों पर आधारित था। वादी को न्यायालय में न्याय हेतु प्रार्थना पत्र देना होता था। उसके प्रार्थना पत्र का विचार किया जाता था। न्याय सम्बन्धी निर्णय देने से पूर्व दोनों पक्षों को आमन्त्रित किया जाता था तथा दोनों का पक्ष जाना जाता था। यह सभी प्रक्रिया खुली सभा में होती थी। अभियोगो की

समस्त कार्यवहियां लिखकर रखी जाती थीं। इस तथ्य का समर्थन बौद्ध जातकों में भी मिलता है। अपराधियों को दण्डित करते समय उनके अपराध का स्वरुप, कारण, उनका सामाजिक स्तर, जाति आदि पर ध्यान दिया जाता था। नाबालिकों को कम दण्ड का प्रावधान था। प्राचीन भारत में मुख्यतया पांच प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जैसे– जुर्माना, कारावास, देश निष्कासन, अंग विच्छेद, प्राणदण्ड। कुछ विचारकों का मानना है कि, भारतीय न्याय व्यवस्था में जाति भेद के कारण दण्ड में विषमता पैदा हो जाती थी। यह लोकतांत्रिक एवं समतावादी मूल्यों के लिए अहितकर एवं निन्दनीय है।

**प्राचीन भारत में कानून के स्रोत –**

प्राचीन भारत में कानून के विविध स्रोत हैं –

1. वेद
2. स्मृतियां
3. सदाचार
4. आत्मसंतुष्टि
5. मीमांसा एवं उपनिषद
6. शिक्षा कल्पसूत्र व्याकरण
7. निरूक्त एवं छन्द
8. बौद्ध एवं जैन साहित्य
9. कुछ विद्वानों के अनुसार पुराण

# Unit-IV

## पौर तथा जनपद

पौर तथा जनपद शब्दों का प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इन जनपदों की तुलना यूनान के नगर राज्यों से की जाती है। प्राचीन भारत में ऐसे अनेक जनपदों का उल्लेख मिलता है। ये जनपद राजतन्त्रात्मक एवं प्रजातन्त्रात्मक दोनों ही प्रकार की शासन प्रणालियों से प्रशासति हो सकते थे। प्रारम्भिक जनपदों में इस बात पर बल दिया जाता था कि, उनके सभी निवासी एक जाति के हों किन्तु वाद में यह बात विशेष महत्वपूर्ण नहीं रही। डा. के.पी. जायसवाल का मत है कि, साधारण रुप से पौर और जनपद का अर्थ किसी राज्य के ग्राम तथा नगर की जनता से है। 'पार' शब्द का प्रयोग गांव की जनता के लिए और 'जनपद' शब्द का प्रयोग नगर के निवासियों के लिए किया जाता था। तो

पौर–जनपद के अध्ययन को हम दो भागों में विभाजित करें तो उपयुक्त रहेगा। इसके प्रथम भाग में पौर–जनपद का अर्थ एवं प्रकृति आती है, जबकि दूसरे भाग में इसके कर्तव्य तथा महत्व को लिया जा सकता है। विषय के दोनों पहलुओं के सम्बन्ध मे ***डा0 जायसवाल एवं प्रोफेसर अलतेकर*** द्वारा विरोधी विचार प्रकट किये गये हैं। इन दोनों विचारों में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है। अपने पक्ष के समर्थन में दोनों के द्वारा ठोस तर्क प्रदान किये गये हैं। अतः उपयुक्त रहेगा कि एक सन्तुलित अध्ययन की दृष्टि से दोनों विद्वानों के विचारों की जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

### पौर–जानपद का अर्थ एवं प्रकृति

इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में डा0 जायसवाल का मत है कि "आरंभिक काल में जनपद शब्द का शब्दार्थ और आशय भी जन या जाति का निवास स्थान ही था। आगे चलकर इस शब्द से समस्त जाति का भी बोध होने लगा परन्तु अब इस शब्द का पुराना अर्थ नहीं रह गया था। उसका वही अर्थ हो गया था जिसे आजकल हम लोग देश कहते हैं, और उसके अर्थ में उस देश के बसने वाली जातियों आदि की ओर कोई संकेत आदि नहीं होता था। डा0 जायसवाल का यह स्पष्ट मत है कि वैदिक काल में जो सभा और समितिया सक्रिय थी के परवर्ती काल में संपूर्ण रुप से समाप्त नहीं हुई वरन् उनके स्थान

पर दूसरी सस्थाओं का जन्म हो गया। यह पौर जनपद सभा थी। ईसा पूर्व सन् 600 से सन 600 ई0 तक के काम में राज्य के दो भाग हुआ करते थे – प्रथम राजधानी और दूसरा देश। राजधानी को पूर या नगर कहा जाता था। कभी कभी इसके लिए दुर्ग शब्द भी प्रयुक्त किया जाता था। दूसरी ओर देश को जनपद कहते थे। राजधानी के अतिरिक्त जो भी प्रदेश बचता था वह सब देश था। पर से पौर और जन से जनपद शब्द की व्युत्पत्ति हुइ है। डा0 जायसवाल के मतानुसार जनपद शब्द का अर्थ जनपद के निवासी अथवा प्रान्त या भू–भाग के रुप में लेना अनुपयुक्त है। अपने तर्क के समर्थन में उन्होंने रामायण के अयोध्या काण्ड के चौदहवां अध्याय का 54वां श्लोक उद्धृत किया है। इसमें महाराज दशरथ के सम्मुख यह निवेदन करने के लिये कहा गया है कि पौर, जनपद उत्सुक होकर श्रीराम को अभिभावक के रुप में प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्रमाणा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में खारवेल के राज्य में ये संस्थाएं कार्य कर रही थीं। महाराजा खारवेल ने जनपद को कुछ सुविधाएं और अधिकार प्रदान किया है, जो उल्लेखनीय है।

पौर संस्था की अनेक अराजनैतिक कार्य करने होते थे जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में प्राप्त होता है। डा0 जायसवाल ने इसके अराजनैतिक कार्यों को कई भागों में बांटा है। प्रथम : जायदादों की व्यवस्था करना, द्वितीय नागरिकों की आर्थिक उन्नति, तृतीय नगर की शान्ति रक्षा एवं पुलिस की व्यवस्था का कार्य, चौथी क्षेत्र की न्याय व्यवस्था करना, पांचवी धर्म स्थान एवं अन्य सार्वजनिक स्थानों की देख–रेख तथा मरम्मत आदि। डा0 जायसवाल कहते हैं कि मैगस्थनीज द्वारा पाटलिपुत्र की जिस नगरपालिका सरकार का वर्णन किया गया है। वह हिन्दू भारत की यही पौर संस्था थी। इनमें कार्य करने वाले अधिकारी राजा द्वारा नियुक्त नहीं होते थे। स्ट्रैबो द्वारा पाटलिपुत्र की शासन व्यवस्था का वर्णन करते हुए नगर मजिस्ट्रेट शब्द का प्रयोग किया गया है। डा0 जायसवाल के मतानुसार यह पौर मुख्य है। अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हुए डा0 जायसवाल ने बताया है कि पोर संस्था अपने सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाया करती थी। उसके द्वारा यह देखा जाता था कि, कहीं राज्य के टकसाल में खराब सिक्के न ढल जाये। राजधानी प्रदेशों में रहने वाले व्यापारियों की एक सभा भी हुआ करती थी, जिसे निगम कहते थे। डा. जायसवाल को ऐसा जान पड़ा कि राज नगर की यह निगम संस्था है। वास्तव में पोर

संस्था की जननी थी। अनेक टीकाचारों ने निगम तथा पोर का समानार्थक बताया है। इस प्रकार उपरोक्त अध्ययनों से ऐसा प्रतीत होता है कि पोर का व्यापारिक और आर्थिक स्वरुप भी पर्याप्त महत्वपूर्ण था।

## गांवो का स्थानीय प्रशासन

प्रो0 अलतेकर का कहना है कि "अति प्राचीन काल से ही भारत के ग्राम शासन व्यवस्था की धुरी हैं।" महात्मा शुक्र ने गांव की परिभाषा देते हुए बताया कि जहां से एक सहस्त्र चांदी के पर्ण की आय हो वह गांव है। चाणक्य का कहना है कि, कोस दो कोस की सीमा में गांव बसाए जाएं, जिसमें श्रमिक एवं किसान अधिक हों। सौ से लेकर पांच सौ तक कुल हों तथा यह पर्वत, वन, खाई अथवा गुफा, सेतु, बांध, वृक्षों से युक्त हो। वैदिक काल में राज्यों का आकार छोटा होने के कारण गांव का महत्व और भी प्रासंगिक हो गया। राज्य का आकार बढ़ जाने के बाद भी अधिकाश लोग गांव में ही रहते थे। अतः इनका महत्व बना रहा। रामायण और महाभारत में भी गांव के अधिकारियों का नाम आया। बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी ग्रम का वर्णन मिलता है। ग्राम के अधिकारी को ग्रामणी कहा जाता था। यह स्थानीय जनता का अभिभावक होता था। स्थानीय जनता का इस पर अटूट विश्वास था।

गांवों के प्रशासन का स्वरुप प्रजातंत्रात्मक था। राधाकुमुद मुखर्जी का विश्वास है कि, प्राचीन भारत में सामूहिक स्वशासन एवं विकेन्द्रीकरण का प्रचलन था। उस समय प्रत्येक गांव स्वशासित होते थे। मेगस्थनीज आदि विदेशी विद्वानों द्वारा यह माना गया है कि भारतीय ग्राम आत्मनिर्भर थे और विकास कार्य में रत रहते थे। महात्मा शुक्र ने प्रत्येक गांव में छः राज्य कर्मचारी का उल्लेख किया है।

## ग्राम पंचायतों के कार्य

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों के अनेक कार्य होते थे जो निम्नवत हैं–

1. **भूमिकर** – भूमिकर वसूल करने का दायित्व पूरी तरह ग्राम पंचायतों का था। ग्राम पंचायतों द्वारा विभिन्न तरीकों से कर वसूला जाता था।

2. **झगड़ों को दूर करना** – ग्राम पंचायत को न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त थीं। यद्यपि गंभीर अपराध इनके अधिकार सीमा से बाहर थे। दीवानी के मामलों में इनके अधिकार व्यापक थे। पंचायतों की व्यापक न्यायिक शक्तियों के कारण अराजकता कम था।

3. **देवालयों का प्रबन्ध** – ग्राम पंचायतों का कार्य ग्राम में स्थित देवालयों, मंदिरों का देखभाल करना था। जिसका संचालन इन्हीं की देख रेख में होता था।

4. **ऊसर भूमि का स्वामित्व** – गांवों में जो ऊसर भूमि होती थी, उसका स्वामित्व ग्राम पंचायत को प्राप्त था। पंचायत की इच्छा सर्वोपरि होती थी।

5. **सार्वजनिक हित की योजनाएं** – गांव की बेहतरी एवं सुशासन के लिए ग्राम पंचायते योजनाएं बनाती थी। प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों द्वारा जंगली एवं ऊसर भूमि को कृषि हेतु जमीन बनाने का प्रयास किया जाता था ताकि ग्राम पंचायतों की आय बढ़े।

अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत की ग्राम पंचायतें वर्तमान ग्राम पंचायतों से अधिक अधिकारयुक्त थीं तथा वह जनता के कल्याण हेतु समर्पित रहती थी।

## संदर्भ–ग्रन्थ


1. के.एल., कमल – भारतीय राजनीतिक चिन्तन
2. गाबा, ओम प्रकाश – भारतीय राजनीतिक विचारक
3. जायसवाल, के.पी. – हिन्दू पॉलिटी
4. घोषाल, यू.एन. – ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आईडियाज
5. ठाकुर, एल.डी. – प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन
6. अल्तेकर, ए.एस. – स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एनसिएन्ट इण्डिया
7. पाण्डे, श्यामलाल – भारतीय राज्य शासक के प्रणेता
8. श्रीवास्तव, के.सी. – प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति
9. राणा, अमरनाथ – वैदिक साहित्य में अर्थ
10. मिश्र, राजेश्वर – महान चाणक्य जीवनी और समस्त साहित्य
11. बर्मा, श्री राम – भारतीय राजनीतिक विचारक
12. दिनकर, रामधारी सिंह – संस्कृत के चार अध्याय